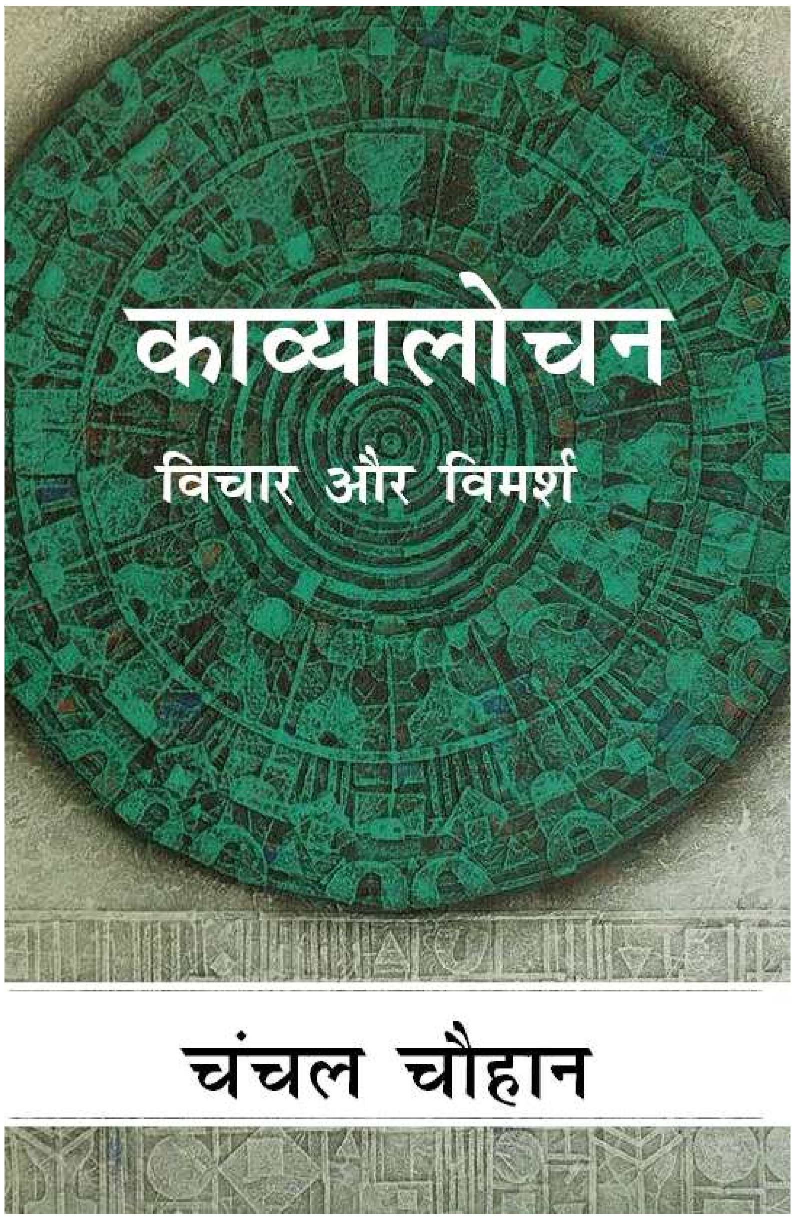
काव्यालोचन
विचार और विमर्श
चंचल चौहान

काव्यालोचन

विचार और विमर्श

चंचल चौहान

अनन्य प्रकाशन

प्रकाशक : अनन्य प्रकाशन
ई-17, पंचशील गार्डन, नवीन शाहदरा
दिल्ली-110032
फ़ोन नं. 011-2285606, 22824606
E-mail: prakashanananya@gmail.com
© चंचल चौहान
प्रथम संस्करण : 2025
आइ एस बी एन : 978-93-48409-72-0
मूल्य : 475
शब्द संयोजन : कम्प्यूटेक सिस्टम, दिल्ली-110032
मुद्रक : लकी प्रिंटर्स, दिल्ली-110032

KAVYALOCHAN : VICHAR AUR VIMARSH
(LITERARY CRITICISM)
by Chanchal hauhan

समर्पित
प्यारे साथी और उत्प्रेरक
कल्पना के धनी
मुरली मनोहर प्रसाद सिंह और रेखा अवस्थी
को

अनुक्रम

भूमिका 9
कबीर की कविता की राजनीति 11
तुलसी का *रामचरितमानस* : विचारधारा का सवाल 19
तुलसी : मेघ जी के वातायन से 29
राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन : निराला काव्य का वैचारिक आधार 41
फ़ैज़ : निर्वासन के दर्द का अहसास 53
'अमन का राग' : एक कालजयी रचना 64
शमशेर : इतने पास अपने 71
जनकवि शील : एक अडिग प्रतिबद्धता की मशाल : 80
शील जी की कविता और रोमानी भावबोध 87
त्रिलोचन की कविताई 95
रघुवीर सहाय : सामाजिक न्याय और बराबरी के मूल्यों के कवि 101
रघुवीर सहाय-2 अपने समय के आरपार देखता कवि 115
रघुवीर सहाय की काव्यभाषा 136
विजयदेव नारायण साही की कविता 152

धूमिल की कविता 168
बीमार व्यवस्था की गवाह
समकालीन जनवादी कविता 174
एक विकसित धारा
समकालीन जनवादी कविता की रचना प्रक्रिया 182
मुक्तिबोध के बाद की कविता 191

भूमिका

मेरी यह पुस्तक पिछले चालीस बरसों में लिखे गये मेरे कुछ चुनिंदा लेखों का संग्रह है। ये लेख मेरी दो अन्य आलोचना कृतियों में शामिल नहीं हैं। पहली पुस्तक, *जनवादी समीक्षा : नया चिंतन, नये प्रयोग,* स्वतंत्र पुस्तक के रूप में 1979 में प्रकाशित हुई थी। उस पुस्तक में उस समय तक की आलोचना और मुख्यतः कुछ लंबी कविताओं पर समीक्षात्मक लेख, नये प्रयोग के तौर पर, शामिल थे। उस समय मैंने आलोचना की नयी पद्धति विकसित की थी, उसी का प्रयोग उसमें किया था। उसके बाद मैंने कुछ मध्यकालीन और कुछ बाद के कवियों की 'कविताई' की अपनी तरह से परख की। उन लेखों को इसमें शामिल किया है। 'काव्यालोचन' के ये ही विविध रंग इसमें देखने को मिलेंगे।

मेरे लेख विभिन्न पत्र पत्रिकाओं में समय समय पर प्रकाशित होते रहे, लेकिन उन्हें पुस्तक के रूप में संकलित करके प्रकाशित करवाने के बारे में आलस्य ही बरतता रहा। जब किसी प्रकाशक का आग्रह होता है तो पुस्तक को एक आकार देना ज़रूरी होता है। ऐसे ही एक आग्रह के बाद इसे संकलित किया है।

मेरी काव्य आलोचना अलग तरह की है, यह अंतर पाठक इसे पढ़कर ही देख पायेंगे। यदि इससे हिंदी काव्यालोचन में मेरा कुछ विनम्र योगदान हुआ तो यह श्रम सार्थक होगा।

चंचल चौहान

1 मई 2024
173 कादंबरी, सेक्टर 9
रोहिणी, दिल्ली-110085

कबीर की कविता की राजनीति

कुछ लोग इस लेख के शीर्षक से चौंकेंगे, कहा जा सकता है कि कबीर के युग में तो राजनीतिक पार्टियां थीं नहीं, राजे महाराजे ज़रूर होते थे और राजनीति उन्हीं के दरबारों में होती रहती थी, संतों को उस राजनीति से क्या लेना देना, 'संतन को कहा सीकरी सौं काम'। कबीर दरबारी कवि भी नहीं थे, इसलिए उनकी कविता की क्या राजनीति हो सकती थी? दर असल, राजनीति का एक प्रचलित अर्थ ऊपरी तौर पर दिखायी देने वाले शासक की नीति से लिया जाता है, जैसे इतिहास की प्रचलित व्याख्या राजा महाराजाओं के जीवनचरित और शासनकाल का वर्णन कर देने तक सीमित रहती है। आज भी हर क्षेत्र में अवधारणाओं की एक अनुभववादी व्याख्या होती रहती है, जबकि वैज्ञानिक पद्धति अनुभववाद की कमियों से ऊपर उठ कर अवधारणाओं की यथासंभव वस्तुगत व्याख्या करती है। इतिहास का वैज्ञानिक विश्लेषण यह मांग करता है कि इतिहास में उन सबको शामिल किया जाये जो एक देशकाल में रहते और सामाजिक क्रया-अंतःक्रया करते हैं। यानी इतिहास के पन्नों को सिर्फ़ राजा महाराजाओं के जीवनचरित से ही सुसज्जित न किया जाये, यह भी अंकित किया जाये कि उस काल खंड में राजाओं की प्रजा क्या करती और विकास की किस अवस्था में थी, पूरा समाज मानव सभ्यता के विकास की किस मंज़िल पर था, उस दौर में मौजूद वर्गों के बीच टकराव का क्या स्वरूप था। समाज की आदिम अवस्था के बाद जब वर्गविभाजन हो गया, तो शोषित व शोषक के बीच वर्गसंघर्ष की राजनीति का बीज भी उसी समय से पड़ गया। राजनीति की इस अवधारणा को ध्यान में रखें तो यह बात स्पष्ट हो जायेगी कि अवधारणाओं का भी विकास होता है। राजनीति का अर्थ कौटिल्य या प्लेटो और अरस्तू के ज़माने में दूसरा था, आज दूसरा है। प्लेटो का 'रिपब्लिक' सिर्फ़ स्वामीवर्ग का था, दासों को तो कोई मानव अधिकार हासिल ही नहीं थे, उन्हें तो पशु की तरह बेचा, ख़रीदा या दहेज में भी दिया जा सकता था जैसा कि तुलसीदास ने सीता के दहेज का वर्णन करते हुए लिखा कि राजा जनक ने सीता के दहेज में 'महिषी, धेनु, वस्तुविधि नाना' (बालकांड, दोहा-333

के पहले और बाद में) के साथ ही दास और दासियां भी दीं : 'दासीं दास दिये बहुतेरे।' दासों को ज़िंदा रहने का अधिकार तो सामंतवाद ने दिया, जो कि दासव्यवस्था के मुक़ाबले बेहतर व्यवस्था थी। इसी तरह पूंजीवाद ने फ्रांस की क्रांति के साथ 1789 में 'समानता, आज़ादी और बंधुत्व' के जनवादी नारे संसार को दिये, यह भी प्रगतिशील काम था क्योंकि पूंजीवाद सामंती व्यवस्था के मुक़ाबले बेहतर समाज था, नयी व्यवस्था के आने से शोषित मानवता को कुछ और स्वतंत्राताएं हासिल हुईं जो उसे पुरानी पतनशील व्यवस्था में नहीं मिली थीं। पूंजीवाद के साम्राज्यवाद की मंज़िल में पहुंचने तक विश्व के शोषित मानव के लिए ख़तरे फिर बढ़ गये हैं जिनका ख़ात्मा समाजवाद के विकास से ही संभव है। इसलिए आज की राजनीति का केंद्रीय मुद्दा साम्राज्यवादी शोषण से विश्व मानवता की मुक्ति का है। राजनीति का यह विमर्श व्यापक आम समझ से हट कर होगा।

हमारे अपने देश में भी जब मुक्तिबोध यह सवाल करते हैं कि 'पार्टनर, आपकी पालिटिक्स क्या है?' या 'तय करो किस ओर हो तुम', तो इसका मतलब यह नहीं है कि आप किस पार्टी में है, मतलब उस वर्गीय क़तारबंदी का है जिसमें हर कोई जाने अनजाने 'पार्टनर' है, भले ही वह वर्गचेतस न हो। आज भी हमारा समाज वर्गों में बंटा हुआ है, उन वर्गों के हित साधन करने वाली राजनीतिक, वैचारिक संरचनाएं भी हैं जिन्हें हम पार्टियों और विचारधाराओं के नाम से जानते हैं। इन सबका एक वर्गीय चरित्र है, उनकी वर्गीय पक्षधरता है। सारे धान बाईस पसेरी नहीं हैं, एक तरह की राजनीति और दूसरे तरह की राजनीति के वर्गचरित्र में अंतर है। जिस कालखंड में इस देश में पूंजीपतिवर्ग का उदय हुआ तो उसकी राजनीति, उसकी विचारधारा और साहित्य का भी जन्म हुआ। कविता में भी, 'पै धन विदेस चलि जात यहै दुख भारी' जैसी पंक्ति इसी राजनीति से अस्तित्व में आयी थी, स्वाधीनता आंदोलन के दौर का ज़्यादातर साहित्य मुक्ति की वर्गीय राजनीति से ही पैदा हुआ था। उसी दौर में मज़दूरवर्ग की विचारधारा और राजनीति भी अस्तित्व में आयी, आख़िर अकबर के ज़माने में तो न कांग्रेस पार्टी बनी, न ही कम्युनिस्ट पार्टियां कहीं भी बनी थीं, क्योंकि तब पूंजीपतिवर्ग का वर्गीय आधार भी नहीं था। इसलिए राजनीति का व्यापक अर्थ वर्गीय राजनीति से ही लिया जाना चाहिए।

दुर्भाग्य से हिंदी क्षेत्र में सामंती सोच इतनी गहरे पैठी हुई है कि आज भी राजनीति को व्यक्तिपरक अर्थों में ही (राजा साहब की राजनीति के रूप में) ग्रहण किया जाता है। अमुक नेता ऐसा है, तमुक नेता ऐसा है, यह नहीं समझा जाता है कि इनमें कुछ पार्टियां ऐसी हैं जो विश्वपूंजीवाद के हित साधन में लगी हैं, विश्वपूंजीवाद ने अब अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय पूंजी के वर्चस्व से सारी दुनिया पर अपना

दबदबा क़ायम किया हुआ है, उनके एजेंट अर्थव्यवस्था पर क़ाबिज़ हैं, पार्टी कोई भी सत्ता में दिखायी दे रही हो। पार्टियां अपने अपने मुखौटे ले कर उसी पूंजी की सेवा में लगी हैं, व्यक्ति या नेता कोई भी उनमें हो, वह तो मात्र 'मुखौटा' है। कुछ ही पार्टियां मज़दूरवर्ग और बाक़ी शोषित वर्गों के हितों की नुमाइंदगी करती हैं, उनमें भी व्यक्ति कोई भी हो, उसकी सफलता और ग़लतियां भी वर्गीय ताक़त और कमज़ोरियों के कारण ही होती हैं। मुक्तिबोध के सवाल का जवाब भी इसी समझदारी की मांग करता है। राजनीति के इसी वर्गीय अर्थ में कबीर की कविता की राजनीति पर विचार किया जाना चाहिए।

कबीर के समय में भी समाज वर्गों में बंटा हुआ था और उन वर्गों के हित आपस में टकराते थे। इस टकराहट को ही हम वर्गसंघर्ष कहते हैं। मार्क्स ने मानव के इतिहास को वर्गसंघर्ष का इतिहास कहा था। इस अर्थ में हमें कबीर की कविता के वर्गीय विचारों का विश्लेषण करना होगा। उनके विचार ही उनकी राजनीति के मुखर बिंब माने जायेंगे। कबीर जिस कालखंड में रचना कर रहे थे, वह काल बुनियादी तौर पर सामंती काल ही था। उत्पादन के मुख्य साधन के रूप में ज़मीन थी जिस पर सामंतों का कब्ज़ा था और उस पर काम करने वाले किसान ही थे। समाज की बनावट में कुछ अन्य वर्ग भी थे जैसे बुनकर, कुम्हार, नाई, भवननिर्माण करने वाले मिस्त्री, लोहार और चर्म आदि का हस्तउद्योग करने वाले तथा सफ़ाई आदि में लगे समुदाय। इन सब का लालनपालन भी कृषिष्ज्ञउत्पादन से ही जुड़ा था। सामंतवर्ग उस दौर का शासकवर्ग था, उस वर्ग की विचारधारा का भी आधिपात्य समाज में था, जिस तरह शोषित समाज की ओर से कभी कभी चुनौती सामंतवर्ग को इतिहास में मिलती है, उसी तरह उनकी विचारधारा को भी चुनौती समय समय पर मिलती है। भारतीय सामंतवाद की सबसे मज़बूत विचारधारा ब्राह्मणवाद रही है जिसका मुख्य घटक वर्णाश्रम व्यवस्था और पुनर्जन्म (अवतारवाद) की अवधारणा है। मनुष्य और मनुष्य के बीच नाबराबरी को हमेशा के लिए वैध बना देने वाले ये विचार सामंतवाद को आज तक मज़बूत बनाये हुए हैं। फ्रांस की क्रांति के समय आधुनिक पूंजीवाद ने सामंती विचारधाराओं का भी अंत किया था, मगर उसके बाद जब उसने प्रतिक्रियावादी स्वरूप अख़्तियार कर लिया तो सामंतवाद को भी अपने 'शोषण-पाप के परंपराक्रम' में शामिल कर लिया। इसीलिए योरोप के कई देशों में आज भी राजा रानी पूंजीवादी सत्ता के सहायक हैं, हालांकि वे शोभामूर्ति ही हैं। भारत में भी ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने सामंतवाद से समझौता कर लिया था, उन्हीं के चरणचिह्नों पर चलते हुए भारत के इज़ारेदार पूंजीवाद ने भी सामंतवाद को ख़त्म करने के बजाय उससे गठजोड़ कर लिया। सामंतवाद के अनेक सड़े गले विचार और परंपराएं हमारे यहां

इसीलिए आज भी जीवित हैं, क्योंकि आज़ादी के बाद के भारत की राजसत्ता में इज़ारेदार पूंजीपतिवर्ग के साथ सामंतवाद का गठजोड़ है। एक ही सामंती घराने का पुत्र कांग्रेस में बड़ा नेता है, उसी घराने की माता या बहन बी जे पी में और सतीप्रथा का आदर्शीकरण करने वाली, बीजेपी के ऐसे सामंती तत्व मंत्री या मुख्यमंत्री पद पर आसीन होते रहे हैं और आगे भी रहेंगे। यह एक उदाहरण है, व्यक्ति की या घराने की बात नहीं है, इससे सिर्फ़ यह स्पष्ट होता है कि सामंतीवर्ग किस तरह इज़ारेदार पूंजीपतिवर्ग के साथ आज भी गठबंधन करके देश की सत्ता में हिस्सेदारी कर रहा है, इससे हमारे समाज की सत्ता का वर्गचरित्र स्पष्ट होता है।

कबीर के वक़्त में औद्योगिक पूंजीपतिवर्ग वजूद में नहीं था। हथकरघे या हस्तशिल्प से ही ऐसी चीज़ें बनायी जाती थीं जिनका इस्तेमाल अन्य वर्ग के लोग करते थे, इस सीमित बाज़ार के लिए ही ऐसे लघु माल का उत्पादन होता था। कबीर भी इसी तरह के उत्पादन से जुड़े थे। कृषि व्यवस्था में ऐसे उत्पादक ही प्रगतिशील वर्ग के रूप में उभरते हैं और विकास के अपने चरण में वे सामंतवाद को चुनौती भी देते हैं। यह प्रक्रया ज़्यादातर समाजों में घटित होती है। व्यावसायिक पूंजीवाद का विकास भी इसी प्रक्रया में होता है जो सामंतवाद को चुनौती देता है।

भारतीय समाज में वर्णव्यवस्था और पुनर्जन्म की विचारधारा को निर्णायक तौर पर ख़त्म करना इसीलिए संभव भी नहीं हो पाया क्योंकि आर्थिक आधार में सामंतवाद की उपस्थिति बनी हुई है। कृषि संबंधों में भूस्वामित्व और भूमिहीनता के अस्तित्व को ज़िंदा रखने के लिए ब्राह्मणवाद एक कारगर हथियार की तरह काम कर रहा है। आज दलित चेतना के उभार का अर्थ भी इसी ब्राह्मणवाद-सामंतवाद के ख़िलाफ़ उभरने वाले वर्गसंघर्ष से ही है, साथ ही वह वर्णसंघर्ष भी है। यह आकस्मिक नहीं है कि दलित लेखक आज खुद को कबीर की परंपरा से जोड़ रहे हैं,(देखें, डा. धर्मवीर की पुस्तक, *कबीर के आलोचक*) क्योंकि कबीर की कविता की राजनीति जागरूक दलित लेखकों को उनके अपने समुदाय के हित में जाने वाली राजनीति लगती है। यद्यपि कबीर के काव्य में ऐसे भी अंश हैं जिन पर सामंती विचारधारा का अच्छा ख़ासा असर है (और सामंती समाजव्यवस्था में ऐसा होना अस्वाभाविक भी नहीं है), फिर भी उनका बहुलांश सामंतवाद के ख़िलाफ़ जाता है, वह सामंतवाद चाहे हिंदू समुदाय का हो या मुस्लिम समुदाय का। उन्होंने सामंती विचारधारा के रखवाले पंडितों और मुल्लाओं की खुले आम ख़बर ली। कबीर की कविता के इस पक्ष पर टिप्पणी करते हुए डा. रामविलास शर्मा ने लिखा, 'उन्होंने निम्नश्रेणी की जनता में आत्मगौरव का भाव जगाया। इस कार्य से उन्होंने निम्नवर्गों की सामाजिक चेतना को निखारा, उसे बल प्रदान किया। इस तरह उन्होंने जनसाधारण को सामंती

अत्याचारों के विरोध में खड़ा होना सिखाया।' (*इंद्रप्रस्थ भारती,* अप्रैल-जून : 2000, पृ. 82)

समाज के विकासक्रम में हर मंज़िल पर सत्यों का उद्घाटन वे वर्ग करते हैं जो ऐतिहासिक रूप में पुरानी शोषण व्यवस्था को ख़त्म करने और नयी विकासशील व्यवस्था की स्थापना के लिए प्रतिश्रुत होते हैं। मसलन, सामंतवाद के ख़ात्मे की ऐतिहासिक रूप से ज़िम्मेदारी पूंजीवाद की है, इसलिए जिस दौर में पूंजीवाद ने सामंतवाद के ख़ात्मे की निर्णायक लड़ाई लड़ी, उस दौर में उसने सत्य का, वैज्ञानिक सत्य का प्रसार किया। ज्ञानविज्ञान का अकूत विस्तार उसी वर्ग की देन है। इसी तरह सर्वहारावर्ग की ज़िम्मेदारी पिछली तमाम शोषण पर आधारित व्यवस्थाओं को ख़त्म करने की है, इसलिए ज्ञानविज्ञान को पूरे समाज के हित में इस्तेमाल करने और सत्य उजागर करने और सत्य की विजय के लिए संघर्ष करने का दायित्व भी ऐतिहासिक तौर पर उसी वर्ग का है।

कबीर और निर्गुण संप्रदाय के भक्त सामंतवाद के भीतर उभरते नये कारीगरवर्ग और सामंती उत्पीड़न के ख़िलाफ़ संघर्ष करती आम किसान जनता की विचारधारा को प्रतिबिंबित करते थे, इसीलिए 'सत्य' के प्रति या 'ज्ञान' के प्रति उनका ही ज़्यादा आग्रह था। प्रो. इरफ़ान हबीब ने लिखा भी है कि ये संत उत्पीड़ित और दलित सामाजिक तबक़ों से आये थे, इनका एकेश्वरवाद समाज की निचली श्रेणियों की आवाज़ बनकर प्रकट हुआ था। उन्होंने कबीर के बारे में लिखा कि 'कबीर के लिए ईश्वर से एकाकार होने का अर्थ मनुष्यों का एक होना है और इसीलिए वहां शुद्धता और छुआछूत की प्रथा को संपूर्ण रूप से स्पष्ट शब्दों में नकारा गया है तथा सब तरह के अनुष्ठानों को अस्वीकार किया गया है।' (*सांप्रदायिकता और संस्कृति के सवाल,* पृ. 23) सगुण 'भक्ति' ब्राह्मणवाद के विचारों के विरुद्ध बहुत दूर तक नहीं जाती थी, उल्टे वर्णाश्रम धर्म और पुनर्जन्म की विचारधारा को पुष्ट करती थी।

सगुण भक्ति के व्यापक प्रचार और प्रसार का एक कारण यह था कि सामंती व्यवस्था के भीतर सदियों से दबे कुचले समुदाय के लिए सगुण 'भक्ति' का रास्ता आसान था, 'भायं कुभायं अनख आलसहूं / नाम जपत मंगल दिसि दसहूं'। तुलसीदास ने 'ज्ञान' के पंथ के बारे में एक डर पैदा किया, 'ज्ञान क पंथ कृपान कै धारा / परत खगेस न लावहि बारा'। उन्होंने सगुण 'भक्ति' को 'मणि' की संज्ञा दी और 'ज्ञान' को 'दीपक' बताया जो आसानी से बुझ सकता था। सामंती सांस्कृतिक पिछड़ इस आसान रास्ते की ओर साधारण जन को ले जाती थी, इसीलिए सगुण-निर्गुण के संघर्ष में ब्राह्मणवाद की ही अंततः विजय हुई, इस संघर्ष में

ब्राह्मणवाद ने इसलिए भी विजय हासिल की क्योंकि उस भक्ति को आम आदमी की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के आश्वासन से जोड़ दिया गया था। 'जे सकाम नर सुनहिं जे गावहिं / सुख संपति नाना विधि पावहिं' (*रामचरितमानस*) या फिर यह कहा गया था कि 'जिमि सरिता सागर महं जाहीं / जदपि ताहि कामना नाहीं / तिमि सुख संपति बिनहिं बुलाये / धरमसील पहं जाय सुभाये।।' सगुण भक्ति के प्रसार में इस भौतिकवादी आश्वासन का बहुत बड़ा हाथ है। 'ॐ जय जगदीश हरे' के व्यापक प्रसार का भी यही कारण है। हमारे देश में सैकड़ों भगवानों और भगवतियों व साईं बाबाओं की लोकप्रियता का रहस्य भी यही है कि वे सब 'सुख संपति घर आवे' का आश्वासन ज़रूर देते हैं। निर्गुण संप्रदाय ने भक्ति की जगह 'ज्ञान' और 'सत्य' का संदेश दिया और उन ढकोसलों का खंडन किया जिनका व्यापक प्रचार पंडित और मुल्ला अपने अपने तरीक़े से करते थे। कबीर का बल भी 'ज्ञान' और 'सत्य' पर था, काव्यात्मक तरीक़े से उनकी आत्मा रूपी प्रेमिका कहती है कि 'पिया मोरा मिलिया सत्त गियानीं'(*कबीर ग्रंथावली*, सं. पारसनाथ तिवारी, पद-17) कबीर की कविता कहीं भी 'सुख संपति' का झूठा आश्वासन नहीं देती। वहां तो धनसंचय और माया के जाल में फंसने से भक्त को बचाने की कोशिश है। सुख संपति का भोग करने वाला सामंतवर्ग भी अंततः 'जायगा', यह यथार्थ ज़रूर उनकी कविता में हमें मिलता है।

निर्गुण काव्य में लौकिक बिंब ज़रूर हैं, उनके बिना कविता संभव ही नहीं है। मगर उस काव्य में 'सत्य' को ही ईश्वर माना गया है, किसी हाड़-मांस के राम या कृष्ण या मछली या सुअर आदि को नहीं जैसा कि अवतारवाद में विश्वास करने वाली सगुण भक्ति काव्य में वर्णित है। सिखों के उद्घोष, 'सत श्री अकाल' का भी यही अर्थ है कि 'सत्य ही अमर ईश्वर है'। निर्गुण संप्रदाय के अनुयायी सिखों के धर्मग्रंथ *गुरु ग्रंथसाहब* में उस समय निर्गुण ईश्वर में विश्वास रखने वाले सभी संतों की कविताएं (जिनमें कबीर की कविताएं मात्रा में सबसे ज़्यादा हैं) संकलित हैं। सिखों के 'दसवें गुरु गोविंदसिंह जी जब मरने लगे तो उन्होंने उसकी ओर लक्ष्य कर अपने अनुयायियों से कहा कि 'सिक्खो, मेरे बाद अब तुम्हारा कोई शरीरधारी गुरु नहीं होगा, 'ग्रंथ साहब' को ही अपना गुरु समझना। उसकी शिक्षाओं पर चलना और उसके सम्मान की रक्षा करना।' (*कबीर ग्रंथावली*, वही, भूमिका, पृ. 71) दसवें गुरु को यह लगा होगा कि ब्राह्मणवाद के प्रभाव में कोई शरीरधारी अपने को ईश्वर का अवतार घोषित करके उनके किये कराये पर पानी न फ़ेर दे, और हुआ भी वही, कबीरपंथियों ने कबीर को भगवान आख़िर बना ही दिया। सिखों ने भी अपने धर्म को ब्राह्मणवादी कर्मकांड में ढाल दिया।

निर्गुण संतों के अनुयायी ज़्यादातर मेहनतकश समुदाय के ही लोग थे, जबकि सगुणभक्ति सवर्णों को ज़्यादा अच्छी लगी और सवर्णों ने बाद में तुलसी के महाकाव्य, *रामचरितमानस* को उसी तरह पूजना शुरू कर दिया जैसे सिख, *गुरु ग्रंथसाहब* को पूजते हैं। वे भी सिखों की नक़ल करते हुए तुलसी के ग्रंथ का अखंडपाठ करते हैं और प्रसाद बांटते हैं। ब्राह्मणों ने उसे एक ऐसे धार्मिक अनुष्ठान में बदल दिया है जिससे वे अखंडपाठ करने वालों के मन में उनकी मनोकामना पूरी करने के विश्वास को भी बल प्रदान करते हैं। तुलसी ने अपने महाकाव्य के हर कांड में जगह जगह अंधविश्वास फैलाने वाली ऐसी घोषणाएं की हुई हैं कि *रामचरितमानस* के पाठ से 'सुख संपति' अपने आप आती है। भारत की भोली भाली ग़रीब जनता को इस तरह के 'ग़रीबी हटाओ' के नारे से बार बार छला गया है। वह इस छलना की अभ्यस्त हो गयी है। हमारे समाज ने सामंतवाद के ख़िलाफ़ अब तक कोई निर्णायक लड़ाई नहीं लड़ी है, हमारे पड़ोसी देश नेपाल तक ने यह लड़ाई लड़ी और कुछ हद तक जीती है, इसीलिए वहां सर्वहारावर्ग का आंदोलन भी आगे बढ़ गया है। भारत की ज्ञानात्मक प्रगति के लिए आर्थिक आधार और सुपरस्ट्रक्चर यानी दोनों स्तरों पर सामंतवाद के ख़िलाफ़ संघर्ष करना बहुत ज़रूरी है। कबीर इस सकारात्मक राजनीति में हमें बहुत बड़ी प्रेरणा देते हैं। उनकी कविता में ऐसे अनेक वैज्ञानिक सत्यों का उदघाटन हुआ जिनसे सामंती मिथ्या चेतना का खंडन होता था। एक जगह तो यहां तक कह दिया है कि 'मनुष्य के बावले मन ने ही ईश्वर की रचना की है'। (*गुरु ग्रंथसाहब* के गउड़ी, 57-1 में एक पंक्ति आती है कि 'कालबूत की हसतनी मन बउरा रे चलतु रचिओ जगदीस')। यह वक्तव्य आश्चर्यचकित कर देने वाला है, हालांकि हमारे देश में चार्वाक से ले कर अनेक ऐसे दार्शनिकों की लंबी परंपरा रही है, जो या तो नास्तिक थे या निराकार ईश्वर में ही विश्वास रखते थे। लेकिन सामंती विचारधाराओं के गहरे घटाटोप से घिरे समाज में इस तरह की घोषणा सचमुच क्रांतिकारी ही कही जायेगी। *कबीर ग्रंथावली* के संपादक पारसनाथ तिवारी ने इस पंक्ति में आये शब्द 'चलतु' को और इस पंक्ति के डा. रामकुमार वर्मा द्वारा किये गये अर्थ को ग़लत बताया है और उसकी जगह 'चित्रा' शब्द को सही माना है और वही उन्होंने पद संख्या 97 में दिया भी है। इससे कबीर की उक्त पंक्ति का अर्थ बदल जाता है, और यह सिद्ध नहीं होता कि मनुष्य ने ही ईश्वर की रचना की है। मगर डा. तिवारी द्वारा संकलित एक अन्य पद भी है जो काव्यात्मक तरीक़े से फिर यही दर्शाता है कि कबीर अपनी रचनायात्रा में ऐसे पड़ाव पर पहुंचते हैं जहां वे किसी ईश्वर को नहीं मानते। उनके विपुल साहित्य में ऐसे स्थल ज़्यादा हैं जहां वे निराकार

भगवान को जो कि सत्यरूप है, ज्ञानरूप है अपना इष्ट मानते हैं। पद संख्या 140 तक पहुंच कर उनका वाचक इतना निर्भीक हो जाता है कि कह उठता है :

अब मेरी रांम कहइ रे बलइया।
जांमन मरन दोऊ डर गइया।।
ज्यों उघरी कों दे सरवांनां।
राम भगति मेरे मनहुं न मांनां।।
हंम बहनोई राम मेरा सारा।
हमहि बाप रांम पूत हमारा।।
कहै कबीर ए हरि के बूता ।
रांम रमे तो कुकुर के पूता ।।

आख़िर की पंक्ति का एक पाठ यह भी है कि 'कहै कबीर सकल जग मूठा / राम कहै सोई जन झूठा।' (*कबीर ग्रंथावली*, वही, पृ. 82) इस पद का अर्थ इतना दुरूह नहीं है कि कबीर की निर्भीकता समझ में नहीं आये। 'राम के जन्मदाता हमीं हैं' इस अर्थ को भी झुठलाना संभव नहीं है। अगर दूसरे पाठ को भी सही मानें तो भी स्पष्ट है कि राम का जाप करने वाला झूठा है, स्मरण रहे, वे पंडितों की आलोचना करते हुए यह कहते रहे थे कि 'पंडित बाद बदै सो झूठा'। अभिलाष दास ने भी अपनी पुस्तक, *कबीरः व्यक्तित्व और कर्तृत्व* में यह माना है कि कबीर किसी ईश्वर में विश्वास नहीं करते थे, कबीर के लिए 'यह चेतन जीव ही परम तत्व है सद्गुरु पहली ही *रमैनी* में कहते हैं कि 'एक जीव कित कहूं बखानी।' अर्थात एक जीव ही सत्य है, मैं विषय वर्णन क्या करूं।'(पृ.106) अभिलाष दास ने एक दोहे का अर्थ करते हुए यह दर्शाया है कि कबीर किसी ईश्वर में विश्वास नहीं करते थे। 'सांच कहूं तो है नहीं, झूठहि लागु पियारि / मो शिर ढारे ढेंकुली, सींचे और कि क्यारि।'

कबीर की कविता की यही राजनीति है कि वह दमित, दलित और अपने समय के शोषित वर्गों के साथ खड़ी होती है और उन्हें ज्ञान के माध्यम से आगे बढ़ने की प्रेरणा देती है। उनका शोषण करने वालों ने जिस झूठ को तरह तरह से फैला रखा था, उस पर वे निर्मम हो कर प्रहार करते हैं, चाहे वह झूठ पंडितों ने फैलाया हो, मुल्लाओं ने फैलाया हो, अवधूतों ने फैलाया हो, या किसी अन्य संप्रदाय ने जो मनुष्य को अज्ञान की ओर धकेलता हो। मुरली मनोहर प्रसाद सिंह ने पिछले दिनों लिखे एक लेख में लिखा है कि 'अपने जीवनानुभव के साक्ष्य पर आधारित तर्कों से कबीर पंडित को, मुल्ला को, धार्मिक मठाधीशों को, योगियों को और अवधूतों को निरुत्तर कर देते हैं, जातिप्रथा के समर्थकों की बोलती बंद कर देते हैं, धार्मिक

कर्मकांड और आडंबरों की धज्जियां उड़ा देते हैं।'(*इंद्रप्रस्थ भारती,* अप्रैल-जून 2000, पृ.112)

कबीर की कविता में मेहनत करने वाले लोगों के जगह जगह चित्रा हैं, एक पद में तो सामंत द्वारा किये गये अत्याचारों से तंग आकर एक किसान गांव छोड़ने की बात करता है। कहीं, चरखा चलाने वाली स्त्रियां हैं, कहीं युद्ध में लड़ने वाले सिपाही हैं। कहीं भी अंधविश्वास फैलाने वाले चित्रा नहीं हैं, उलटबांसियां तो एक विधा की तरह हैं, उनमें भी चित्रा सामान्य जीवन के ही हैं, जैसे सिंह गाय चरा रहा है तो चित्रा तो ग्वाले का ही है। कबीर के काव्य में ऐसा बहुत कुछ है जो आज की क्रांतिकारी राजनीति के काम का है। प्रगतिशील विचारधारा के बहुत से बीज ('आलोचना और आत्मालोचना' से ले कर 'ज्ञानविज्ञान' के प्रचारप्रसार तक) कबीर में दिखते हैं जो उन्हें लोकायत, सांख्य, न्यायवैशेषिक आदि अनेक भौतिकवादी दर्शनों की लंबी भारतीय परंपरा से जोड़ते हैं। वे आज के शोषित समाज की अमूल्य निधि हैं।

रचनाकाल : मई 2001

==

पूरी किताब पढ़ने के लिए प्रकाशक से संपर्क करें, अपने लिए या आपनी लाइब्रेरी के लिए किताब मंगवायें।

==